५

शब्द-रूप भिन्न, किन्तु भावरूप एक :

अरिहन्त, अरहन्त, अरुहन्त

जैन-दर्शन के अनुसार वीतरागदेव अरिहन्त होते हैं। अरिहन्त हुए बिना वीतरागता हो ही नहीं सकती। दोनों में कार्य-कारण का अटूट सम्बन्ध है। अरिहन्तता कारण है, वीतरागता उसका कार्य है। जैन-धर्म विजय का धर्म है, पराजय का नहीं। विरोधी शत्रुओं को जड़-मूल से नष्ट करने वाला धर्म है, उसकी दासता करने वाला नहीं। यही कारण है कि सम्पूर्ण जैन-साहित्य अरिहन्त और जिन के मंगलाचरण से प्रारम्भ होता है, और अन्त में इससे ही समाप्त होता है। जैन-धर्म का मूलमन्त्र नमस्कार-नवकार है, उसमें भी सर्व-प्रथम 'नमो-अरिहंताणं' है। जैन-धर्म की साधना का मूल सम्यग्दर्शन है, उसके सम्यक्त्व-प्रतिज्ञा-सूत्र में भी सर्व-प्रथम 'अरिहन्तो मह देवो' है। अतएव 'नमोत्थुणं' सूत्र का प्रारम्भ भी 'नमोत्थुणं अरिहंताणं' से ही हुआ है। जैन-संस्कृति और जैन-विचार-धारा का मूल अरिहंत ही है। जैन-धर्म को समझने के लिए अरिहन्त शब्द को समझना अत्यावश्यक है।

अरिहन्त का अर्थ है—अरि अर्थात् शत्रु, उनका हनन करनेवाला। आप प्रश्न कर सकते हैं कि यह भी कोई धार्मिक आदर्श है? अपने शत्रुओं को नष्ट करने वाले सब ओर हजारों लोग हैं, हजारों क्षत्रिय हैं, राजा हैं, क्या वे वन्दनीय हैं? क्षत्रिय के लिए 'अरिसूदन' शब्द आता है, उसका अर्थ भी शत्रुओं का नाश करने वाला ही है। अतः क्या वे भी अरिहन्त हुए, जैन-संस्कृति के आदर्श देव हुए? उत्तर में निवेदन है कि यहाँ अरिहन्त से अभिप्राय, बाह्य शत्रुओं को हनन करना नहीं है, प्रत्युत अन्तरंग काम-क्रोधादि शत्रुओं को हनन करना है। बाहर के शत्रुओं को हनन करने वाले हजारों वीर क्षत्रिय मिल सकते हैं, भयंकर सिंहों और बाघों को मृत्यु के घाट उतारने वाले भी अति साहसी शिकारी मिलते हैं; परन्तु अपने अन्दर में स्थित कामादि शत्रुओं को हनन करने वाले सच्चे आध्यात्म-क्षेत्र के क्षत्रिय विरल ही मिलते हैं। एक साथ करोड़ शत्रुओं से जूझने वाले कोटि भट-वीर भी अपने मन की वासनाओं के आगे थर-थर काँपने लगते हैं, उनके इशारे पर नाचने लगते हैं। हजारों वीर धन के लिए प्राण देते हैं, तो हजारों सुन्दर स्त्रियों पर मरते हैं। रावण-जैसा विश्व-विजेता वीर भी अपने अन्दर की काम-वासना से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सका। अतएव जैन-धर्म कहता है कि अपने-आप से लड़ो! अन्दर की वासनाओं से लड़ो! बाहर के शत्रु इन्हीं के कारण जन्म लेते हैं। विष-वृक्ष के पत्ते नोचने से काम नहीं चलेगा, जड़ उखाड़िए, जड़! जब अन्तरंग हृदय में कोई सांसारिक वासना ही न होगी, काम, क्रोध, लोभ आदि की छाया ही न रहेगी, तब बिना कारण के बाह्य शत्रु क्यों कर जन्म लेंगे? जैन-धर्म का युद्ध, धर्म-युद्ध है। इसमें बाहर से नहीं लड़ना है, अपने-आपसे लड़ना है। विश्व-शान्ति का मूल इसी भावना में है। अरिहन्त बनने वाला, अरिहन्त बनने की साधना करने वाला एवं अरिहन्त की उपासना करने वाला ही विश्व-शान्ति का सच्चा स्रष्टा हो सकता है, अन्य नहीं। इसी अन्तःशत्रुओं को हनन करने वाली भावना को लक्ष्य में रखकर आचार्य भद्रबाहु ने कहा है कि—'ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कर्म ही वस्तुतः संसार के सब जीवों के अरि हैं। अतः जो महापुरुष उन कर्म-शत्रुओं का नाश कर देता है, वह अरिहन्त कहलाता है।"

"अट्ठविहं पि य कम्मं,
अरिभूयं होइ सव्व-जीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता,
अरिहंता तेण वुच्चंति ॥"

—आवश्यक निर्युक्ति ९१४

प्राचीन मागधी, प्राकृत और संस्कृत आदि भाषाएँ बड़ी गम्भीर एवं अनेकार्थ-बोधक भाषाएँ हैं। यहाँ एक शब्द, अपने अन्दर में स्थित अनेकानेक गम्भीर भावों की सूचना देता है। अतएव प्राचीन आचार्यों ने अरिहन्त आदि शब्दों के भी अनेक अर्थ सूचित किए हैं। अधिक विस्तार में जाना यहाँ अभीष्ट नहीं है, तथापि संक्षेप में परिचय के नाते कुछ लिख देना आवश्यक है।

'अरिहन्त' शब्द के स्थान में अनेक प्राचीन आचार्यों ने अरहन्त और अरुहन्त पाठान्तर भी स्वीकार किए हैं। उनके विभिन्न संस्कृत रूपान्तर होते हैं—अर्हन्त, अरहोऽन्तर्, अरथान्त, अरहन्त और अरुहन्त आदि।

'अर्ह-पूजायाम्' धातु से बनने वाले अर्हन्त शब्द का अर्थ पूज्य है। वीतराग तीर्थंकर-देव विश्व-कल्याणकारी धर्म के प्रवर्तक हैं, अतः असुर, सुर, नर आदि सभी के पूजनीय हैं। वीतराग की उपासना तीन लोक में की जाती है, अतः वे त्रिलोक-पूज्य हैं, स्वर्ग के इन्द्र भी प्रभु के चरण-कमलों की रज मस्तक पर चढ़ाते हैं, और अपने को धन्य-धन्य समझते हैं।

अरहोऽन्तर् का अर्थ—सर्वज्ञ है। रह का अर्थ है—रहस्यपूर्ण—गुप्त वस्तु। जिनसे विश्व का कोई रहस्य छुपा हुआ नहीं है, अनन्तानन्त जड़-चैतन्य पदार्थों को हस्तामलक की भाँति स्पष्ट रूप से जानते-देखते हैं, वे अरहोऽन्तर् कहलाते हैं।

अरथान्त का अर्थ है—परिग्रह और मृत्यु से रहित। 'रथ' शब्द उपलक्षण से परिग्रह-मात्र का वाचक है और अन्त शब्द विनाश एवं मृत्यु का। अतः जो सब प्रकार के परिग्रह से और जन्म-मरण से अतीत हो गया, वह अरथान्त कहलाता है।

अरहन्त का अर्थ—आसक्ति-रहित है। रह का अर्थ आसक्ति है। अतः जो मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर देने के कारण राग-भाव से सर्वथा रहित हो गए, वे अरहंत कहलाते हैं।

अरुहन्त का अर्थ है—कर्म-बीज को नष्ट कर देने वाले, फिर कभी जन्म न लेने वाले। 'रुह' धातु का संस्कृत भाषा में अर्थ है—सन्तान अर्थात् परम्परा। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज, फिर बीज से वृक्ष-और वृक्ष से बीज—यह बीज-वृक्ष की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। यदि कोई बीज को जलाकर नष्ट कर दे, तो फिर वृक्ष उत्पन्न नहीं होगा, बीज-वृक्ष की इस प्रकार की परम्परा समाप्त हो जाएगी। इसी प्रकार कर्म से जन्म, और जन्म से कर्म की परम्परा भी अनादिकाल से चली आ रही है। यदि कोई साधक रत्न-त्रय की साधना की अग्नि से कर्म-बीज को पूर्णतया जला डाले, तो वह सदा के लिए जन्म मरण की परम्परा से मुक्त हो जाएगा, अरुहन्त शब्द की इसी व्याख्या को ध्यान में रखकर आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थ-सूत्र के अपने स्वोपज्ञ भाष्य में कहते हैं—

"दग्धेबीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाऽङ्कुरः।
कर्म-बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाऽङ्कुरः॥"

—उपसंहार कारिका, ८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरहन्त भगवान् का स्वरूप :

भारतवर्ष के दार्शनिक एवं धार्मिक-साहित्य में भगवान् शब्द, बड़ा ही उच्चकोटि का भावपूर्ण शब्द माना जाता है। इसके मूल में एक विशिष्ट भाव-राशि स्थित है। 'भगवान्' शब्द 'भग' शब्द से बना है। अतः भगवान् का शब्दार्थ है—'भगवाली आत्मा।'

आचार्य हरिभद्र ने भगवान् शब्द पर विवेचन करते हुए 'भग' शब्द के छः अर्थ बतलाए हैं—ऐश्वर्य=प्रताप, वीर्य=शक्ति अथवा उत्साह, यश=कीर्ति, श्री=शोभा, धर्म=सदाचार और प्रयत्न=कर्तव्य की पूर्ति के लिए किया जाने वाला अदम्य पुरुषार्थ। जैसा कि उन्होंने कहा है—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, वीर्यस्य[1] यशसः श्रियः।
धर्मस्याऽथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना॥"

—दशवैकालिक-सूत्र टीका, ४।१

अतः यहाँ स्पष्ट है कि जिस महान् आत्मा में पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण यश, पूर्ण श्री, पूर्ण धर्म और पूर्ण प्रयत्न स्थित हो, वह भगवान् कहलाता है। तीर्थंकर महाप्रभु में उक्त छहों गुण पूर्णरूप से विद्यमान होते हैं, अतः वे भगवान् कहे जाते हैं।

जैन-संस्कृति, मानव-संस्कृति है। यह मानव में ही भगवत्-स्वरूप की झाँकी देखती है। अतः जो साधक, साधना करते हुए वीतराग-भाव के पूर्ण विकसित पद पर पहुँच जाता है, वही यहाँ भगवान् बन जाता है। जैन-धर्म यह नहीं मानता कि मोक्षलोक से भटक कर ईश्वर यहाँ अवतार लेता है, और वह संसार का भगवान् बनता है। जैन-धर्म का भगवान् भटका हुआ ईश्वर नहीं; परन्तु पूर्ण विकास पाया हुआ जागृत मानव-आत्मा ही ईश्वर है, भगवान् है। उसी के चरणों में स्वर्ग के इन्द्र अपना मस्तक झुकाते हैं, उसे अपना आराध्य देव स्वीकार करते हैं। तीन लोक का सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसके चरणों में उपस्थित रहता है। उसका प्रताप, वह प्रताप है, जिसके समक्ष कोटि-कोटि सूर्यों का प्रताप और प्रकाश भी फीका पड़ जाता है—'**आइच्चेसु अहियं पयासयरा।**'

अरहन्त : आदिकर

अरहन्त भगवान् आदिकर भी कहलाते हैं। आदिकर का मूल अर्थ है, आदि करने वाला। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि किसकी आदि करने वाला? धर्म तो अनादि है, उसकी आदि कैसी? उत्तर है कि धर्म अवश्य अनादि है। जब से यह संसार है, संसार का बन्धन है, तभी से धर्म है, और उसका फल मोक्ष भी है। जब संसार अनादि है, तो धर्म भी अनादि ही हुआ। परन्तु, यहाँ जो धर्म की आदि करने वाला कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि अरहन्त भगवान् धर्म का निर्माण नहीं करते, प्रत्युत धर्म की व्यवस्था का, धर्म की मर्यादा का निर्माण करते हैं। अपने-अपने युग में धर्म में जो विकार आ जाते हैं, धर्म के नाम पर जो मिथ्या-आचार फैल जाते हैं, उनकी शुद्धि करके नये सिरे से धर्म की मर्यादाओं का विधान करते हैं। अतः अपने युग में धर्म की आदि करने के कारण अरहन्त भगवान् 'आदिकर' कहलाते हैं।

हमारे विद्वान् जैनाचार्यों की एक परम्परा यह भी है कि अरहन्त भगवान् श्रुतधर्म की आदि करने वाले हैं, अर्थात् श्रुत-धर्म का निर्माण करने वाले हैं। जैन-साहित्य में आचारांग आदि धर्म-सूत्रों को श्रुत-धर्म कहा जाता है। भाव यह है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने चले आये धर्म-शास्त्रों के अनुसार अपनी साधना का मार्ग नहीं तैयार करते। उनका जीवन अनुभव का जीवन होता है। अपने आत्मानुभव के द्वारा ही वे अपना मार्ग तय करते हैं और फिर उसी को जनता के समक्ष रखते हैं। पुराने पोथी-पन्नों का भार लादकर चलना,

१. आचार्य जिनदास ने दशवैकालिक चूर्णि में 'वीर्य' के स्थान में 'रूप' शब्द का प्रयोग किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें अभीष्ट नहीं है। हर एक युग का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अपना अलग शास्त्र होना चाहिए, अलग विधि-विधान होना चाहिए। तभी जनता का वास्तविक हित हो सकता है, अन्यथा जो शास्त्र चालू युग की अपनी दुरूह गुत्थियों को नहीं सुलझा सकते, वर्तमान परिस्थितियों पर प्रकाश नहीं डाल सकते, वे शास्त्र मानव-जाति के अपने वर्तमान युग के लिए अकिंचित्कर हैं, अन्यथा सिद्ध हैं। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने शास्त्रों के अनुसार हूबहू न स्वयं चलते हैं, न जनता को चलाते हैं। स्वानुभव के बल पर संयमोचित नये विधि-विधान का निर्माण करके जनता का कल्याण करते हैं, अतः वे आदिकर कहलाते हैं।[1]

---

१. उपर्युक्त निबन्ध में 'अरिहन्त, अरहन्त तथा अरुहन्त' तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है। और, उनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्यायित किए गए हैं। किन्तु, प्राचीन आगमों का अवलोकन करते हैं, तो वहाँ सर्वत्र 'अरहन्त' शब्द का ही प्रचुर प्रयोग है। आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग आदि अनेक आगम एतदर्थ द्रष्टव्य है। वहाँ कहीं 'अरहा' शब्द का प्रयोग है, तो कहीं 'अरहंताणं' का।

भगवती सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने भी 'अरहन्त' पाठ को ही मुख्य रखा है और 'अरिहन्त' को अपनी टीका में पाठान्तर के रूप में अंकित किया है। भगवती आराधना आदि उत्तरकालीन ग्रन्थों में भी 'अरहन्त' शब्द ही प्रयुक्त है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में मूल शब्द 'अर्हत्' मान कर, उसके ही अकार, इकार, उकार, उच्चारण के रूप में तीन विकल्प प्रस्तुत किए हैं।

अर्हत् शब्द मूलतः 'अर्ह पूजायाम्' धातु से निष्पन्न है। इसीलिए अरहन्त भगवान् को त्रिलोक-पूजित के रूप में उपास्य देव माना गया है। इस सम्बन्ध में प्राचीन शिलालेख का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण भी हमारे समक्ष है। उड़ीसा के उदयगिरि-खण्डगिरि पर्वत में कलिंग सम्राट् खारवेल का शिलालेख अंकित है, जो ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व का प्रमाणित हुआ है। उसमें भी 'णमो अरहंताणं' पाठ ही उल्लिखित है।

वैसे साधक अपनी भावनानुसार किसी भी प्रयोग का उपयोग कर सकता है। इससे सर्वत्र परमात्म स्वरूप के बोध के साथ स्व-स्वरूप के बोध की उपलब्धि होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org